शिक्षकों की कलम से

विगत अंक से हमने एक नया कॉलम शुरू किया है जिसके माध्यम से शिक्षक एवं शिक्षक प्रशिक्षक अपने अनुभवों को साझा कर सकें। इस बार तीन अनुभव प्रस्तुत हैं। इन पर अपनी राय दीजिए। साथ ही, आपसे एक छोटी-सी अपेक्षा होगी कि आप अपने अनुभवों को भी हमारे पास ज़रूर भेजिए।

1. सर! आपने तो अपना परिचय!!!..... केवलानन्द काण्डपाल
2. बोलचाल की भाषा और मुहावरे..... अनिल सिंह
3. भोजन की थाली से..... मोहम्मद उमर

भोजन की थाली से

मोहम्मद उमर

स्कूल में सभी बच्चों को बराबर सम्मान मिले यह विचार नया नहीं है। हमारे संविधान में लिखे समता, स्वतंत्रता जैसे विचारों से साफ है कि आज़ादी के बाद से ही इस बात पर स्पष्ट सैद्धान्तिक सहमति रही है। एन.सी.एफ. 2005 ने इस बात को एक बार और पुख्ता ही किया है। दुर्भाग्य रहा है कि विचारों के स्तर पर बनी यह सहमतियाँ इतने सालों में भी महज़ विचार बनकर ही रह गई हैं। ये ज़रूर हुआ है कि शिक्षा से जुड़े सभी दस्तावेज़ों में इनका ज़िक्र आ जाता है। पाठ्यक्रम या पुस्तक निर्माण में यदि कुछ संवेदनशील लोग जुड़े हैं तो थोड़ी-बहुत पुस्तक के पाठों और चित्रों में भी ये भावना आ जाती है। कक्षा-कक्ष की परिस्थितियाँ काफी हद तक आज भी पहले जैसी ही हैं। कारण तमाम हैं, लेकिन कुछ पर हमें खुलकर संवाद करने की ज़रूरत है। मैं यहाँ पर कुछ अलग-अलग घटनाओं का ज़िक्र करने जा रहा हूँ जो आपको पाठ्यक्रम निर्माण, शिक्षक प्रशिक्षण से लेकर कक्षा-कक्ष तक की कुछ झलकियाँ देंगी। इन सभी बातों को जोड़कर देखते हुए हम एक बड़े सवाल को टटोलने का प्रयास करेंगे।

दो साल पहले एक हिन्दी-भाषी राज्य में बच्चों के लिए नई किताबें लिखने का काम शुरू हुआ था। संयोग से मैं भी इस प्रक्रिया में शामिल था। किताबें पहले की तुलना में काफी बेहतर हैं। पाठ्यक्रम का आधार एन.सी.एफ. 2005 ही था इसलिए उसमें सुझाए सभी मुद्दों पर लेखन समूह के सदस्यों की साझा सहमति थी। मैं तथा मेरे कुछ साथी अलग-अलग विषयों के लेखन समूहों में सहभागी भूमिका में थे। लगातार कई-कई दिनों तक किताबें लिखने की कार्यशालाएँ चलती थीं। देश भर से आने वाले शिक्षाविद्, राज्य के शिक्षक तथा स्वयं-सेवी संगठनों के लोग इन लेखन समूहों का हिस्सा थे। हम कुछ साथी अक्सर शाम को अपने अनुभव साझा करते थे तथा विषयों के बीच के अन्तर्सम्बन्धों पर चर्चा किया करते थे।

गैरतार्किक आहार वर्चस्व

एक दिन कार्यशाला से वापिस आने पर भाषा के विषय-समूह में काम कर रहे मेरे सहकर्मी कुछ परेशान-से दिख रहे थे। आज उनके समूह में किसी मुद्दे पर काफी तर्क-वितर्क हुआ था।

मेरे साथी ने बताया कि किताब में एक कुत्ते का चित्र बना है, जिसके सामने कटोरे में एक हड्डी रखी थी। लेखन समूह के कुछ लोगों को ये स्वीकार नहीं था। वे कह रहे थे कि कटोरे से हड्डी का चित्र हटाकर कुछ शाकाहारी चीज़ का चित्र बनाना चाहिए, लेकिन मौलिक कहानी के सन्दर्भ के अनुसार कटोरे में हड्डी बनाया जाना आवश्यक था।

इसी तरह पर्यावरण अध्ययन की किताबों के लिए लिखे जा रहे पाठों में से एक पाठ भोजन पर आधारित था। तमाम किस्म के खान-पान का ज़िक्र करते हुए ये बात करनी थी कि क्या-क्या चीज़ें खाने से हमें कौन-कौन से पोषक तत्व मिलते हैं। अतः यहाँ अण्डा, माँस, मछली खाने की बात और इनके चित्र भी आवश्यक थे। पर्यावरण अध्ययन के लेखन समूह के सदस्यों में भी इस बात को लेकर मतभेद था। यहाँ भी कई लोग नहीं चाहते थे कि माँसाहारी भोजन का चित्र किताबों का हिस्सा बने। भारत की प्रमुख संस्थाओं में बरसों से काम कर रहे प्रमुख शिक्षाविद् इन समूहों के प्रमुख सलाहकार थे, अतः वे अपने कौशलों से समूह के लोगों में सामंजस्य बनाने में कामयाब हो सके थे।

इसी तरह का एक और नज़ारा एक ज़िले में चल रहे शिक्षक प्रशिक्षण में दिखाई दिया। ये ब्लॉक स्तर का प्रशिक्षण था। एक सरकारी स्कूल के चार बड़े कमरों में विभिन्न विषयों का प्रशिक्षण चल रहा था। प्रत्येक कमरे में दो प्रशिक्षक तैनात थे। ज़िले के एक बहुत ही वरिष्ठ संस्कृत शिक्षक को मुख्य सन्दर्भ-सदस्य बनाया गया था। हालाँकि, किसी भी कक्ष में संस्कृत का प्रशिक्षण नहीं चल रहा था, फिर भी ये मुख्य सन्दर्भ-सदस्य थे। बहुत ही संस्कृतनिष्ठ हिन्दी बोलना जानते थे। अतः ज़िले के शिक्षकों में विद्वान के रूप में स्थापित थे।

प्रशिक्षणों में सुबह 9 से 10 बजे के बीच बहुत ही कम शिक्षक पहुँच पाते थे। इस समय चारों कक्षों के लोगों को एक ही कमरे में बिठाकर प्रार्थना, प्रेरणा गीत, प्रेरक प्रसंग आदि होता था। यह सब आयोजित करने में वे माहिर थे। उनके हाथ में एक मोटी डायरी होती थी, जिसमें बहुत-से भजन, प्रार्थना, प्रेरणा गीत आदि लिखे थे। यूँ तो उन्हें बहुत-से कण्ठस्थ थे, परन्तु आपातकाल में या फिर कुछ खास

फरमाइश आ जाने पर वे अपनी इस डायरी का प्रयोग करते थे। वे अपनी बातों को कहते समय वेद, पुराण, श्लोक आदि का काफी प्रयोग करते थे। सरसरी तौर पर अगर कोई उन्हें इस रूप में देखे तो उसे यही लगेगा कि नैतिक शिक्षा, जीवन मूल्यों आदि पर व्याख्यान दिया जा रहा है। लेकिन, थोड़ा गौर से सुनें तो उनकी कई बातें अन्धविश्वासों और पूर्वाग्रहों को बढ़ावा देने वाली हुआ करती थीं।

ऐसे ही एक दिन वे मेरे कक्ष में भी आ गए। प्रार्थना और प्रेरणा गीत के बाद अपनी वार्ता प्रारम्भ कर दी। उन्होंने कहा – प्राचीन काल में भारतवर्ष के ऋषि सिद्धार्थ और अरब देश के ऋषि हसन में बहुत मित्रता थी। एक दिन ऋषि हसन अपनी उड़ने वाली कालीन पर बैठकर ऋषि सिद्धार्थ से मिलने आए। उनकी कालीन रेगिस्तान और सागरों को पार करते हुए ऋषि सिद्धार्थ के आश्रम के पास पहुँची। उन्होंने ऊपर से ही देखा कि बहुत-से पशु-पक्षी आश्रम में स्वतंत्र घूम रहे हैं। कुछ हिरन सिद्धार्थ ऋषि के चरणों के पास बैठे हैं और वे उनका सिर सहला रहे हैं। यह सब देख ऋषि हसन को बहुत अच्छा लगा। वे जैसे ही सिद्धार्थ ऋषि के पास पहुँचे, सारे जानवर और पक्षी डरकर दूर भाग गए। कुछ झाड़ियों के पीछे छिपने लगे। यह सब देख ऋषि हसन को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सिद्धार्थ ऋषि से पूछा, "ये क्या हुआ भाई? ये सब जानवर और पक्षी तो अभी तक आपके पास बैठे थे, अब डरकर इतना दूर क्यों चले गए?"

सिद्धार्थ ऋषि ने कहा, "मित्र हसन, जैसा आहार वैसा विचार। ये सब जानवर आप से डरकर दूर भाग गए हैं। आपके पसीने की महक से ये जान गए हैं कि आप माँस खाते हैं।"

इस कहानी का अन्त करते समय मुख्य सन्दर्भ-सदस्य जी ने बहुत ही अच्छे से स्थापित कर दिया था कि विचारों के बनने में भोजन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उनके सामने बैठे समूह में जाट, गुर्जर, मीणा, भील, गमेती, ब्राह्मण, कायस्थ, मुसलमान आदि सभी वर्गों के शिक्षक उपस्थित थे। सब लोग इस कथा को सच मान रहे होंगे ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु सभी योग की मुद्रा में बैठे बहुत ध्यान से उनकी बातें सुन ज़रूर रहे थे। कहीं से कोई असहमति नहीं दिख रही थी। उनका विद्वान के रूप में विख्यात होना ही काफी था।

यह कैसी शिक्षा?

इस कपोल-कल्पित कथा का जो निष्कर्ष इस सदन में स्थापित किया जा रहा था, वह ठीक नहीं था, लेकिन कोई प्रश्न उठाने वाला भी यहाँ नहीं था। पिछले कुछ बरसों में हमारी शिक्षा ने शाकाहारी होने को खूब महिमामण्डित तथा माँसाहारी होने को खूब तिरस्कृत किया है। इसी का नतीजा था कि कई ऐसे समुदायों से आने वाले शिक्षक-शिक्षिकाएँ जिनके घरों में माँसाहारी होना वर्जित नहीं है, वे भी चुपचाप इन सब बातों को सुन रहे थे। हमारी कक्षाओं में भी यही होता है। पर्यावरण की रक्षा, पशु प्रेम, जीव हत्या जैसे प्रसंगों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से माँसाहारी लोगों या माँसाहारी समुदायों से आने वाले लोगों को निशाना बनाया जाता है। इसका नतीजा यह होता है

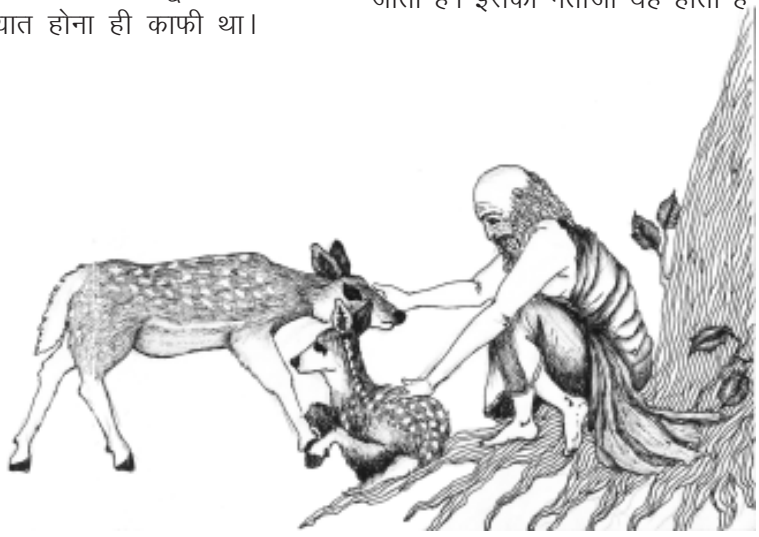

कि बच्चे के मन में भी एक-दूसरे के प्रति इस तरह की बातें घर कर जाती हैं।

मुझे याद है। बचपन में मेरे स्कूल में भी बकरीद जैसा त्योहार आने पर शिक्षक कुरेद-कुरेद कर, सभी बच्चों के सामने पूछते थे कि कल तुम्हारे घर क्या-क्या बनेगा। यदि मैं खीर-सिवइयाँ बोलकर रुक जाता तो वे अपनी तरफ से ही जोड़ देते कि बकरा नहीं कटेगा क्या! ये सुनकर मेरे कुछ सहपाठी हँसते या कुछ छी-छी करने लगते थे। इतनी छोटी उम्र में भी कक्षाओं में लगातार घटने वाले इस तरह के व्यवहार ने मुझे ये अहसास करा दिया था कि ऐसी कुछ चीज़ें हैं जो मेरे भोजन का हिस्सा हैं लेकिन बाहर का समाज इसे स्वीकार नहीं करता है।

मुझे समझ में नहीं आता था कि भला ऐसा कैसे हो सकता है कि कोई चीज़ जो मेरा भोजन है, जिसे मैं खाता हूँ वह दूसरे बच्चों या शिक्षकों के लिए इतनी खराब है कि वे उससे घृणा करते हैं। उसका नाम सुनते ही छी-छी करते हैं। थोड़ा और बड़ा होने पर इस शर्मिन्दगी से बचने के लिए मैं कभी-कभी झूठ बोल दिया करता था कि मैं और मेरा परिवार तो शाकाहारी हैं। हम लोग माँस-मछली खाते ही नही हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में काम करते हुए मुझे अब तकरीबन पन्द्रह साल होने को आ रहे हैं। इस दरम्यान मैं बहुत सारे लोगों से मिला हूँ। कई संस्थाओं को बहुत करीब से देखा है। सच कहूँ तो मेरी बचपन की कक्षाओं से बहुत अलग नहीं हैं ये भी। कई लोगों या संस्थाओं पर प्रगतिशील होने का ठप्पा तो है, पर ज़रा नज़दीक से देखने पर ही कलई खुल जाती है। ब्राह्मणवादी सोच के अवशेष जितने समाज में बचे हुए हैं, उतने ही शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रही इन संस्थाओं में भी हैं। फिर चाहे वो सरकारी हों या गैर-सरकारी।

तार्किक समझ

खैर, वापिस अपने प्रशिक्षण कक्ष में चलते हैं। थोड़ा भी इतिहास, भूगोल समझने वाला आदमी आसानी से जान सकता है कि ऋषियों वाली कहानी सत्य नहीं थी। वो किसी के पूर्वाग्रहों और कल्पना की उपज थी, जिसे इतिहास की चाशनी में डुबोकर सत्य का जामा पहनाने का प्रयास किया जा रहा था। पर अभी सवाल कहानी के सत्य या असत्य होने का नहीं था। सवाल था इस कहानी के ज़रिए फैलाए जा रहे गलत सन्देश का प्रतिरोध तर्कों के आधार पर करने का, वरना एक सदन में इस तरह का झूठ स्थापित हो जाता और आगे भी फैलता जाता।

मैं गणित विषय में काम करता हूँ पर कुछ रुचि इतिहास में भी रखता हूँ।

मैंने सवाल किया, "क्या आप सब ये मानते हैं कि व्यक्ति के विचारों का अच्छा या बुरा होना उसके भोजन पर निर्भर करता है?"

मुख्य सन्दर्भ-सदस्य बोले, "जी बिलकुल, आपने अभी सुना न कि पशु-पक्षी भी ऋषि हसन से दूर भाग गए थे।"

मैंने सदन से दोबारा सवाल किया, "भारत के इतिहास में शान्ति का सन्देश देने वाले व्यक्ति का नाम आप जानते हैं?"

एक शिक्षक बोले, "जी, महात्मा गौतम बुद्ध।"

मैंने एक और सवाल किया, "दुनिया के इतिहास में आप सबसे क्रूर व्यक्ति किसे मानते हैं?"

एक अन्य शिक्षक ने कहा, "हिटलर।"

मैंने एक सवाल के साथ अपनी बात रखी, "क्या आप जानते हैं कि हिटलर और गौतम बुद्ध क्या खाते थे? हिटलर शाकाहारी था और गौतम बुद्ध माँसाहारी थे। यदि भोजन ही विचारों को बनाता-बिगाड़ता है तो ये दोनों ऐसे कैसे हो गए थे? एक शाकाहारी होकर भी क्रूर तानाशाह हुआ और दूसरा माँसाहारी था फिर भी शान्ति एवं अहिंसा का प्रतीक बन गया।"

इस सवाल की कल्पना भी नहीं की थी किसी ने। सदन का सन्नाटा भंग हो गया। एक शिक्षिका बड़ा-सा घूँघट डाल कर बैठी थीं। वे बोलीं, "सर जी, रावण क्या खाता था?"

मैंने जवाब दिया, "मुझे नहीं पता कि रावण क्या खाता था। उसके भोजन के बारे में मुझे जानकारी नहीं है।"

इतने में मुख्य सन्दर्भ-सदस्य बोले, "रावण शुद्ध शाकाहारी था। वह एक बहुत ही विद्वान ब्राह्मण था।"

उनकी इस बात को सुनते ही कुछ लोग कहने लगे – पर था तो वह भी असत्य और अधर्म के मार्ग पर न।

इस तरह कुछ देर तर्क-वितर्क और चर्चा करने के बाद लोग समझ सके कि किसी के अच्छा या बुरा होने में उसके भोजन की कोई भूमिका नहीं होती है।

समावेशी होने के मायने

किताब लिखने के दौरान कुत्ते के कटोरे में हड्डी रखने पर आपत्ति और शिक्षक प्रशिक्षण की इस चर्चा को

गम्भीरता से समझने की ज़रूरत है। यदि वास्तव में हम शिक्षा व्यवस्था को और कक्षाओं को समावेशी बनाना चाहते हैं तो इस तरह के लोगों के साथ मज़बूत तर्कों के आधार पर ही लड़ना पड़ेगा। भारत जैसे देश में इतनी किस्म की विविधताएँ हैं। इतना विशाल समुद्री तट है हमारे पास जिसके हज़ारों मील लम्बे तटों पर रहने वाले लोगों का मुख्य भोजन ही मछली है। अण्डमान निकोबार जैसे द्वीप समूह हैं जहाँ भोजन के लिए समुद्री जीवों पर ही निर्भर रहना होता है। इतने किस्म की जातियाँ और जन-जातियाँ हैं, जिनके खान-पान नदियों-जंगलों में पाए जाने वाले जीवों पर ही आधारित हैं। कई तरह के धर्म सम्प्रदाय हैं। सब एक-दूसरे से भिन्न हैं। इन सबको साथ लेकर बढ़ना है तो सबकी संस्कृतियों, सबकी मान्यताओं, रीति-रिवाज़ों, बोली-भाषाओं और खान-पान को सम्मान देना पड़ेगा। तभी हम सही मायने में समावेशी हो सकेंगे और हमारा समाज समावेशी बन सकेगा।

मोहम्मद उमरः अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, चित्तौड़गढ़ में कार्यरत।
सभी चित्रः नर्गिस शेखः क.का. साहेब वाघ कॉलेज, नासिक से इंजीनियरिंग की पढ़ाई की है। लिथो प्रिंटिंग वर्कशॉप, आई.डी.सी. मुम्बई से सम्बद्ध। स्वतंत्र रूप से फोटोग्राफी करती हैं।